श्री गणेशाय नमः

श्री जानकीवल्लभो विजयतेतराम्

देवरहा प्रसाद

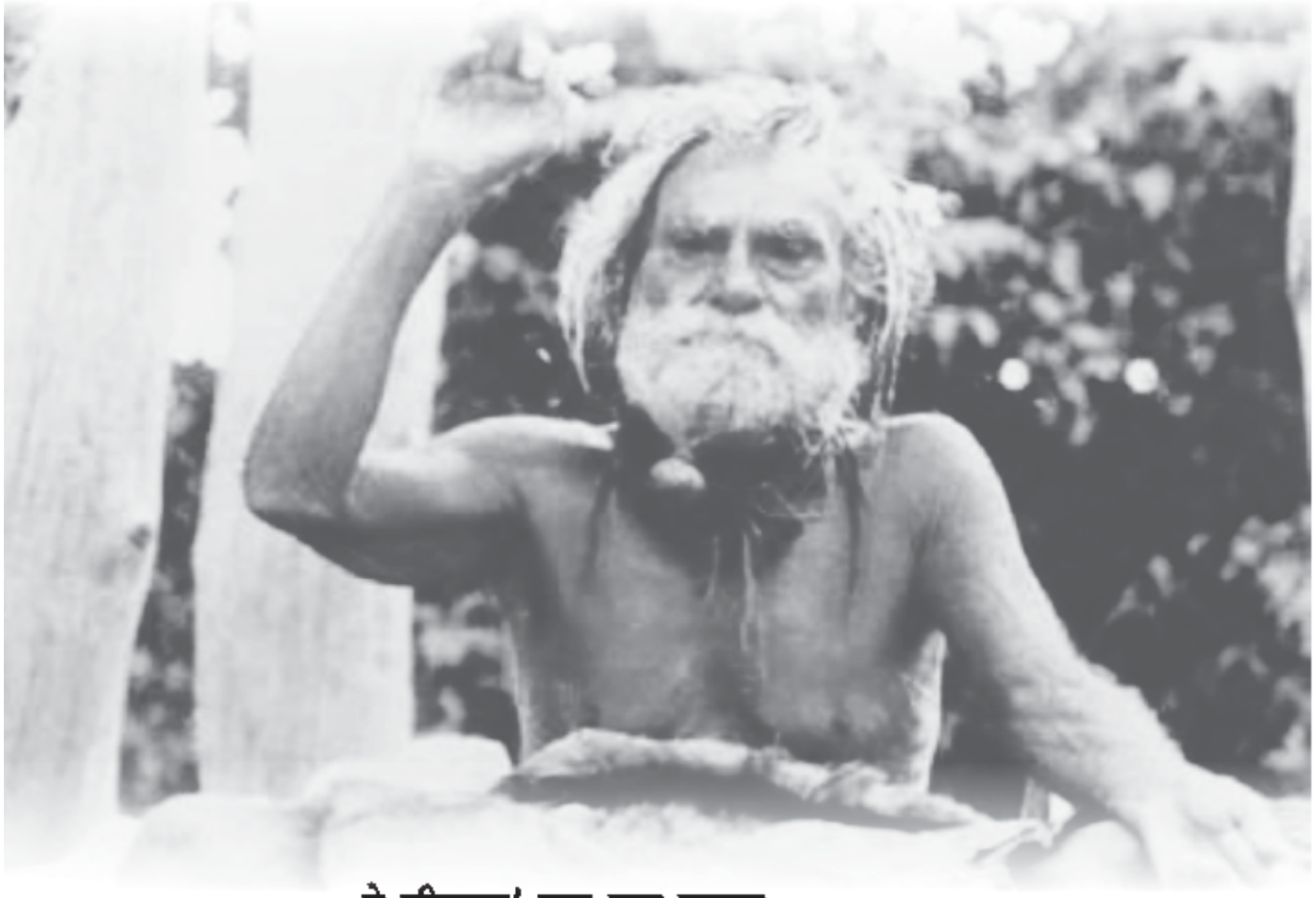

हे वीतराग! शत्-शत् प्रणाम,
हे योगिराज! शत्-शत् प्रणाम।
हे ब्रह्मनिष्ठ! शत्-शत् प्रणाम,
हे देवराह! शत्-शत् प्रणाम॥

श्रीमद् चरणकिङ्कर
—'राम दास'

• प्रकाशक/स्वामी/मुद्रक •

राम दास

• संस्करण •

जनवरी- द्वितीय - 2020

• सहयोग राशि •

50/- (पचास रूपये मात्र)

• संरक्षक •

कुँवर श्री रघुराज प्रताप सिंह

• सम्पादक •

राम दास

• संशोधक •

डॉ0 अरुण कुमार त्रिपाठी

• परामर्शदात्री समिति •

आचार्य सियाराम शास्त्री, श्री फूलचन्द्र दुबे, श्री मनोज मित्तल, श्री विजय कुमार, डॉ0 हरेन्द्र मिश्र

• मुद्रण •

दि इलाहाबाद ब्लॉक वर्क्स प्रा. लि.

329/255 चक, जीरो रोड, इलाहाबाद

दूरभाष– 0532-2564543

सर्वाधिकार सुरक्षित - राम दास

संपादन- संचालन पूर्णतः अवैतनिक एवं अव्यवसायिक

स्वामी, प्रकाशक एवं मुद्रक राम दास की ओर से ''दि इलाहाबाद ब्लाक वर्क्स प्रा0 लि0 329/255 चक जीरो रोड, प्रयागराज- 211003'' उत्तर प्रदेश द्वारा मुद्रित एवं श्री देवरहा बाबा मंच न्यास कोहना, झूंसी - 211019 उत्तर प्रदेश, प्रयागराज से प्रकाशित

सम्पर्क सूत्र

श्री देवरहा बाबा मंच

शास्त्री पुल के नीचे, झूँसी, गंगा तट, प्रयाग (इलाहाबाद)

पिन कोड — 211019

E-mail : sridevrahababamanch@gmail.com

सुधीजन हमें अपने लेख उक्त इ-मेल के पते पर भेज सकते हैं।

website : devrahababamanch.org

अनुक्रमणिका

सम्पादकीय.....4

ब्रह्मर्षि योगीराज-देवरहा-स्तुति-शतकम्.....5

गोदान-धेनुदान और पूज्य बाबा 6

गुरू शिष्य परम्परा.....9

गीता और आज का युवा.....14

स तीर्थराजो जयति प्रयागः 17

राम नाम की महिमा.....21

यतिराज विंशति.....24

ढाई आखर प्रेम का 28

मानस के नैतिक मूल्य.....31

सम्पादकीय

सुधी जनों,

देवरहा प्रसाद का यह अंक आपको समर्पित करते हुए अपार हर्ष हो रहा है । पत्रिका का यह दूसरा ही अंक है किंतु पावन प्रसाद के पाठकों से इसका पुराना सम्बंध रहने के कारण अर्वाचीनता में प्राचीनता की अनुभूति हो रही है । जब तक पूज्य पाद श्री देवराहा बाबा सरकार सशरीर विराजमान थे, उनका पावन प्रसाद भक्त वृन्दों में वितरित हुआ करता था, अब जब कि सूक्ष्म वपु सरकार अंतर्धान भाव से भक्तों के बीच कृपा प्रसाद बरसा रहे हैं, उनके अभिधान का उल्लेख प्रसाद वितरण के साथ अपरिहार्य हो चला है- राम ते अधिक राम कर नामा । नाम का श्रवण रूप के दर्शन से अधिक पुण्यफलदायी है ।

देवरहा प्रसाद के इस अंक की महिमा एक अन्य कारण से भी है- यह अंक माघ के पावन मास में अवतरित हो रहा है। सरकार प्रयागराज में संगम स्थित मंच से हर माघ दर्शन दिया करते थे। भक्त जन त्रिवेणी में अवगाहन करते, फिर सरकार का दर्शन करते और कृत कृत्य हो अपने घर विदा होते। मास भर मंच के पास अन्नक्षेत्र चला करता । आज भी सरकार की कृपा से यह आश्रम उस परम्परा को जीवित रखने का प्रयास भक्त जनों के सहयोग से कर रहा है । अन्नक्षेत्र के भण्डारे में सरकार का प्रसाद आज भी बाँटा जा रहा है ।

आश्रम की अन्य गतिविधियाँ यथा रामार्चा का आयोजन, रुद्राभिषेक का अनुष्ठान, दरिद्रनारायण भण्डारे, गोसेवा, मानसपाठ आदि भी भक्तजनों के सहयोग से इस मास में संचालित हो रहे हैं – इन सभी में सम्पादक की ओर से आप सभी प्रेमी जनों को सादर आमंत्रण । देवरहा बाबा सरकार की कृपा आप पर बरसती रहे ।

रामदास

ब्रह्मर्षि-योगिराज-देवरहा -स्तुति-शतकम्

क्वचिद्धि तीर्थराजनाम सार्थकं कृतं मतम्'
प्रयागराजनायकोऽपि याति धन्यतां मुहुः।
महर्षियोगिवृन्दवन्दितांघ्रिपंकजो मुनिः,
यदा हि दृक्पथं प्रयाति तस्य योगिराऽयम्॥6॥

इसी प्रकार जब कभी यह यतिवर तीर्थराज प्रयाग में पहुँचते हैं, तो यह तीर्थराज प्रयाग अपने तीर्थराज नाम को सफल मानते हैं, और अपने को धन्य मानते हैं। क्योंकि महर्षियों-योगियों के द्वारा भी जिनका वन्दन किया जाता है, उनके दर्शनों का प्रत्यक्ष लाभ उन्हें प्राप्त होता है।।6।।

मुनीन्द्रसिद्धदेवमण्डली मुदान्विता मुहुः,
प्रसून पुञ्जवर्षिणी प्रहर्षिणी दिविस्थिता।
विलोक्य योगिवर्य्यसिद्धिमीदृशीमलौकिकीम्,
स्वयं शिरः प्रकम्पिनी प्रजायते पुनः पुनः॥7॥

आकाश में विराजमान मुनिजन, सिद्ध और देवता आनन्दविभोर होकर पुष्पों की वृष्टि करने लगते हैं। जब वे लोग इन महान् योगिराज की अलौकिक सिद्धि के दर्शन करते हैं तो झूम-झूमकर प्रशंसा करने लगते हैं।।7।।

न देहबन्धनं कदापि गेहजापि संस्मृतिः,
न लौकिकी कथा कदापि कर्णगोचरा क्वचित्।
सदैव जन्म-पावनो हरेर्जपस्य सद्ध्वनिः,
दहन्त्यद्यौद्यमद्भुतं कलेर्गतिञ्च शाश्वतीम्॥8॥

श्री महाराज के दर्शनों में मानव को न तो अपने देह-गेह की ही सुधि रहती है और न संसार की दूषित कथा ही सुनने को मिलती है। सदैव जन्म को सफल बनाने वाली हरिनाम की ध्वनि पाप-पुञ्ज को जलाकर कलियुग की शाश्वतिक गति को भी जला डालती है।।8।।

जना महान्ति पातकानि जन्मनाद्य बिभ्रति,
न चात्मनि न चेश्वरे न चापि धर्मवर्त्मनि।
भतिर्दृढ़ा हि दृश्यतेऽथ शान्तिसौख्यदायिनि,
अहो तथापि दर्शनेन ते भजन्ति सन्मतिम्॥9॥

आज लोग मनुष्य जन्म लेकर पापमयी वृत्ति धारण करते हैं। उसकी बुद्धि न तो आत्मा में न तो ईश्वर में और न तो धर्म के मार्ग में ही है। वास्तव में सामयकि शान्ति और सुख देने वाली केवल सुस्थिति बुद्धि ही दिखायी देती है। फिर भी आश्चर्य का विषय है कि श्रीबाबा के दर्शन से लोग सद्बुद्धि को प्राप्त करते हैं।।9।।

प्रकाममस्तु दर्शनेन गुप्तपापक्षालनम्,
तथापि बुद्धिसंस्थितं च चाशु नाशमेति हि।
गुरोर्गिरं निशम्य तत्तमः प्रणाशमाप्नुयात्,
सुनिर्मला मतिस्तथा समस्तदोषवर्जिता॥10॥

यद्यपि श्री बाबा के दर्शन मात्र से ही पाप भाग जाते हैं, परन्तु बुद्धि में विद्यमान पाप शीघ्र नष्ट नहीं हो पाता है। श्री महाराज की वाणी से जब उपदेशामृत होता है तो वह भी शीघ्र नष्ट हो जाता है। बुद्धि सब दोषों से रहित, परम पवित्र हो जाती है।10।।

—क्रमशः आगामी अंक में

गोदान- धेनुदान और पूज्य बाबा

डॉ0 रामनरेश त्रिपाठी

पूज्य पाद ब्रह्मवेता योगी सम्राट देवराहा बाबा गो-गंगा गायत्री तीनों की उपासना करने पर बल दिया करते थे क्योंकि ये तीनों ही हिन्दू पर्व अथवा सनातन धर्म के प्राण है। वे तीनों में कोई अन्तर नहीं मानते थे। 'गो' में त्रिदेवों ब्रह्मा, विष्णु, महेश का वास है। गंगा त्रिधारा और तीनों देवों से सम्बन्ध रखती है। गायत्री भी त्रिपदा है। ये तीनों पाप नाशनी है। पूज्य बाबा गो सेवा के लिए हमेशा लोगों को प्रेरित करते रहते और अपने उपदेश में कहते बच्चा 'गोमये वसते लक्ष्मी' गाय में लक्ष्मी जी का वास होता है। गाय साक्षात अष्टैश्वर्यमयी लक्ष्मी है।

वृन्दावन मंच पर विराजमान होने के समय किसी भक्त ने बाबा से प्रश्न किया था भगवन् राजसत्ता या समाज में गिरावत क्यों आ रही है? बाबा का उत्तर था बच्चा समाज गो सेवा से विमुख हो रहा हैं। यही कारण है घोर संकट में पड़ता जा रहा है। गाय के रोम-रोम में देवताओं का वास है, गाय की पूजा, उसकी सेवा से समस्त देवताओं की आराधना पूजा हो जाती है। शास्त्रों में भी मान्यता है कि मृत्यु के समय गोदान या धेनु दान देने से प्राणी को वैतरणी नदी पार कराने में वह सहायक होती है। गंगाजल, गायत्री मंत्र तथा गो तीनों मृत्यु के पश्चात भी प्राणियों अर्थात जीव के सुखद मार्ग को प्रशस्त करते हैं। जीव को पापकर्म भोग से मुक्ति प्रदान करते हैं। यद्यपि पूज्य बाबा समस्त जीवों पर दया करते थे, चींटी से लेकर गजरात तक को उनसे प्रेम मिलता, शेर, चीता, भालू जैसे हिंसक जन्तु भी उनके पास आते उनका उपदेश सुनते, बातें करते और समय-समय पर भण्डारा प्रसाद खाकर प्रमुदित होते, परन्तु गाय उन सब में सर्वोपरि थी।

एक बार उनके भक्त डॉ0 हरिवंशलाल शर्मा ने पूज्य चरण योगिराज से गोदान के बारे में प्रश्न कर दिया। पूछा भगवन् वर्तमान में कुछ लोग गौ का दान न देकर उसके स्थान पर कुछ अन्य वस्तुओं का दान देते है। यह पद्धति कहाँ से प्रचलित हुई और क्या उसका फल प्राप्त होता है?

यहाँ प्रस्तुत है हरवंशलाल शर्मा के प्रश्न और पूज्य बाबा के उत्तर –

प्रश्न- महाराज जी, आजकल जो गोदान की पद्धति प्रचलित है उसमें गौ का दान नहीं होता, और उसे ही

गोदान कहते हैं। इस पद्धति का प्रचार कैसे हुआ?

उत्तर- बच्चा! वह गोदान नहीं होता, धेनु-दान होता है। देखों, मत्स्य पुराण और लिंग् पुराण में गोदान-प्रसंग में कामधेनु दान की चर्चा आती है।

इसमें सोने की दो आकृतियों का विधान है। इन मूर्तियों में गौ आह्वान किया जाता है- वास्तविक गौ का दान नहीं किया जाता। इसी प्रकार गोदान की अनुकृति में कुछ पदार्थों का दान किया जाता है। उन्हें धेनु कहते है। मत्स्य पुराण में जो पदार्थ धेनु माने गए है वे हैः गुड़, घृत, तिल, जल, क्षीर, मधु, शर्करा, दधि और रस। इसी प्रकार अग्नि पुराण और वराह पुराण में धेनुओं की संख्या गिनाई गई है। इस धेनुदान को ही कालान्तर में गोदान कहने लगे।

धर्मशास्त्रों में गोदान से बढ़कर दूसरा दान नहीं है। मनु और याज्ञवल्क्य दोनों ने ही गोदान की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। अनुशासान पर्व में लिख है :-

गोभिस्तुल्यं न पश्यामि धनं किंचिबिहाच्युत।
कीर्तनं श्रवणं दानं दर्शनं चापि पार्थिव॥
गवां प्रशस्यते वीर सर्व पापहर शिवम् ।
स्वाहाकार वषट्कारौ गोषु नित्यं प्रतिष्ठितौ॥
गावो यज्ञस्यनैत्रयो वै तथायज्ञस्य ता मुखम् ।
गायः स्वर्गस्य सोपानं पावः स्वर्गेडपि पूजिताः॥

(अनुशासन, 51(36-31 तथा 71/33)

अर्थात् - गौ के तुल्य कोई धन नहीं है। कीर्तन, श्रवण, दान, दर्शन आदि से भी बढ़कर गौ है। गौ सब पापों का निवारण करने वाली है और यज्ञ का मूलभूत साधन भी गो ही है। इसलिए गो की पूजा से लोक और परलोक दोनों की प्राप्ति सम्भव है। गौएं स्वर्ग में भी पूजी जाती है।

गायों में कपिला गाय सबसे श्रेष्ठ बताई गई है। एक कपिला गाय दस साधारण गायों के सामान होती है।

धर्मशास्त्रों में गृहस्थों की भाँति वानप्रस्थों तथा सन्यासियों के आचार का भी विस्तार से विवेचन हुआ है। धर्मशास्त्रों में वर्णाश्रम-धर्म-विवेचन के अन्तर्गत व्यक्ति और समाज के सूक्ष्म से सूक्ष्म आचारों का विवेचन हुआ है। धर्म के अन्तर्गत मानव के धार्मिक, आर्थिक, नैतिक, कानूनी और व्यावहारिक सभी पक्षों को लिया गया है। राजधर्म और राजनय भी धर्म के अभिन्न अंग हैं। अर्थ-शास्त्र भी धर्मशास्त्र का ही एक अंग है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में तो धर्मस्थीय और कण्टक शोधन नाम के दो प्रकरण विशुद्ध धर्म के अन्तर्गत ही आते हैं।

'गो' के अनेक अर्थ हैं। गौ- गाय गो नाम इन्द्रिय, गो-जिह्वा बाबा गो का जिह्वा अर्थ में प्रयोग करते हुये, उसका सम्बन्ध खेचरी मुद्रा से जोड़ते थे।

'गो शब्दे नोदिता जिह्वा तत् प्रवेशो हि तालुनी...''

योगी जब अपनी जिह्वा को कपाल कुहर में प्रवेश करता है और बार-बार पीयूष ग्रन्थि में घर्षण करता है तो वह खेचरी मुद्रा की क्रिया होती है। खेचरी मुद्रा सिद्ध मुद्रा है इसी को अज्ञानी लोग 'गो मांस' भक्षण की संज्ञा देते है। पूज्य बाबा ने इसे अपने तर्क द्वारा भली भांति स्पष्ट किया करते थे। गो अथवा गौ की ही महिमा है कि भगवान् राम का जन्म हुआ। उनके पूर्वज दिलीप द्वारा नन्दिनी की सेवा से रघु का जन्म और रघु से अज और अज से दशरथ उनको कृतार्थ करने के लिए ही मर्यादा पुरूषोत्तम राम का अवतार हुआ।

'गो' की महिमा कहते हुये बाबा कभी थकते नहीं थे। पृथ्वी ने आसुरी वृत्ति से पीड़ित होने पर स्वयं गौ का रूप धारण कर भगवान् के पास गयी थी। जिसके परिणाम स्वरूप भगवान ने जन्म लिया। अतएव गौ की रक्षा करना उसकी सेवा करना प्रत्येक मानव का कर्तव्य है।

डॉ0 रामनरेश त्रिपाठी

460/400 मालवीय नगर, प्रयागराज

मो0- 9415235128

गुरु शिष्य परंपरा

विजय कुमार IRTS

सदियों से भारत भूमि पर गुरु शिष्य का स्नेहिल संबंध रहा है। सनातन परंपरा में गुरु अपनी दयालुता, सद्भावना, और आत्मीयता के विलक्षण स्वरूप से हर एक मानव मन में चरित्र निर्माण ,आपसी प्रेम और भाईचारे का बीज बोता रहता है। सशरीर होते हुए भी गुरु तत्व है। संसार सबसे पवित्र ईश्वरीय देन है। वह मनुष्य के जन्म जन्मांतर के अंध तमस को दूर कर, उसे दिव्य प्रकाश देता है। गुरु के बिना मनुष्य का जीवन बिना पतवार की नौका जैसा है। गुरु के बिना ज्ञान मिलना कठिन है। गुरु के बिना मोक्ष नहीं मिलता। गुरु के बिना सत्य को पहचानना कठिन है। गुरु बिना मन के विकारों का मिटना मुश्किल है. अलौकिक जगत में महा पथ का पथिक गुरु धार्मिकता का प्रथम पुरुष होता है, जो अपने दिव्य ज्ञान से शिष्य के अंतः करण के तारों को झंकृत कर देता है। मनुष्य को जीवन जीने की कला सिखाता है, गुरु शिष्य की उलझी हुई समस्या का समाधान करता है। महाभारत में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश ही नहीं दिया बल्कि हर समय उन्हें उचित निर्देश दिया, जब वे दिग्भ्रमित नजर आए। गुरु के श्री मुख से निकला हर एक शब्द ब्रह्म वाक्य होता है। जो सत्य की गहराई से निकलता है। अपनी महत्ता के कारण गुरु को ईश्वर से भी ऊंचा पद दिया गया है। शास्त्रों में गुरु को ईश्वर के विभिन्न रूपों में स्वीकार किया गया है, क्योंकि वह शिष्य को नया जन्म देते हैं, गुरु- विष्णु भी है, क्योंकि वह मनुष्य की रक्षा करते।

गुरु साक्षात महेश्वर भी हैं, क्योंकि वह शिष्य के सभी दोषों का संहार भी करते हैं। उपनिषदों में कहा गया है कि गुरु के प्राण शिष्यों में और शिष्यों के प्राण गुरु में बसते है। गुरु मानव चेतना के विकास के हर एक पहलू को जागृत करता है। शिष्य को जीवन जीने की कला सिखाता है। एक समबुध गुरु को यदि एक चेतना वान शिष्य मिल जाए तो वह अपने परम संबोधी के विस्फोट से नए युग का निर्माण कर सकता है। उसके जीवन में नई संगीत भर सकता है। आज के समय में एक बार पुनः गुरु शिष्य परंपरा श्रृंखला को कायम होने की बड़ी आवश्यकता है। यदि सही गुरु मिल जाए तो जीवन की दिशा सुधारी जा सकती है।

गुरुता

गुरु का वास्तविक अर्थ तो यही ध्वनित होता है कि जो जीवन में गुरुता यानी वजन शक्ति बढ़ाएं। यह भौतिक पदार्थों से नहीं बल्कि सत् शास्त्रों के निरंतर अध्ययन और चिंतन मनन से ही संभव है। बाहरी गुरु से धोखा हो सकता है, लेकिन सत साहित्य से निरंतर व्यक्ति वजनदार होता जाता है। सच तो यह है कि हर मनुष्य गोविंद बनकर ही जन्म लेता है .यही कारण है कि ईश्वर के पाने जैसा सुख, जन्म देते ही मां को मिलता है।

कबीरदास कहते हैं कि भगवान और गुरु दोनों मिले तो, गुरु के चरणों में समर्पित हो जाना चाहिए। जिस गुरु की ओर कबीर का संकेत है, उस गुरु के दो चरण है, पहला चरण बुद्धि और दूसरा चरण विवेक है। जिसने भी गुरु के इन चरणों को मजबूती से पकड़ लिया, उसका गुरु और गुरुत्वाकर्षण बढ़ जाता है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष उसी की ओर खिंचे चले आते हैं। इस गुरु को वाह्य जगत में तलाशने के बजाय अंतरजगत में ही तलाशना पड़ेगा।

इस गुरु को पाने के लिए मां के गर्भ में 9 माह पोषित होते समय - स्नेह, प्रेम ,करुणा, दया, आत्मीयता एवं आनंद की जो अनुभूति हुई, उसी को जीवन में विकसित करने की जरूरत है। यह सारे गुण व्यक्ति के गुरुत्व को बढ़ाते हैं। कहा भी गया है कि गुरु वही जो अपने शिष्य से हार जाए। अंतर जगत का यह गुरु सच में हर पल हारता है। एक- एक उपलब्धि, रिद्धि-सिद्धि समृद्धि देने के बावजूद उसे लगता है कि कुछ और देना बाकी है। कठिनाई यही है कि इसे पाने का स्थान कहीं है, और तलाश कहीं और हो रही है। मुट्ठी बांधकर जन्म लेते समय बच्चा इसीलिए रोता है, कि मां के गर्भ में जो अनमोल रत्न मिला, उसे वह मुट्ठी में बांधकर संसार में आया, यहां उसकी जरूरत ही नहीं है। अंत सब कुछ गवा के खाली हाथ ही लौटना पड़ता है। इसीलिए गुरु के सर्वश्रेष्ठ मंत्र वाक्य 'शीश कटाए गुरु मिले तो भी सस्ता जान' शत प्रतिशत सही है.यह शीश अहंकार का है, जिससे मान-सम्मान,चर्चा, ख्याति के लिए नकारात्मक कार्य करने पड़ते हैं और ना जाने कितनी ऊर्जा व्यर्थ में गवा देनी पड़ती है। अंधकार में प्रकाश फैलाने

वाला पूर्णिमा का चंद्रमा यह कह रहा है कि आकाश की ऊंचाई और व्यापकता चाहिए तो इन गुणों को आत्मसात करना चाहिए।

गुरु का महत्व

गुरु के महत्व पर संत शिरोमणि तुलसीदास ने रामचरितमानस में लिखा है –

गुर बिनु भवनिधि तरइ न कोई।
जों बिरंचि संकर सम होई॥

भले ही कोई ब्रह्मा, शंकर के समान क्यों न हो, वह गुरु के बिना भव सागर पार नहीं कर सकता। धरती के आरंभ से ही गुरु की अनिवार्यता पर प्रकाश डाला गया है। वेदों, उपनिषदों, पुराणों, रामायण, गीता, गुरुग्रन्थ साहिब आदि सभी धर्मग्रन्थों एवं सभी महान संतों द्वारा गुरु की महिमा का गुणगान किया गया है। गुरु और भगवान् में कोई अन्तर नहीं है। संत शिरोमणि तुलसीदास जी रामचरितमानस में लिखते हैं –

बंदउँ गुरु पद कंज कृपा सिंधु नररूप हरि।
महामोह तम पुंज जासु बचन रबिकर निकर॥

अर्थात् गुरू मनुष्य रूप में नारायण ही हैं। मैं उनके चरण कमलों की वन्दना करता हूँ। जैसे सूर्य के निकलने पर अन्धेरा नष्ट हो जाता है, वैसे ही उनके वचनों से मोहरूपी अन्धकार का नाश हो जाता है। किसी भी प्रकार की विद्या हो अथवा ज्ञान हो, उसे किसी दक्ष गुरु से ही सीखना चाहिए। जप, तप, यज्ञ, दान आदि में भी गुरु का दिशा निर्देशन जरूरी है कि इनकी विधि क्या है? अविधिपूर्वक किए गए सभी शुभ कर्म भी व्यर्थ ही सिद्ध होते हैं जिनका कोई उचित फल नहीं मिलता। स्वयं की अहंकार की दृष्टि से किए गए सभी उत्तम माने जाने वाले कर्म भी मनुष्य के पतन का कारण बन जाते हैं। भौतिकवाद में भी गुरू की आवश्यकता होती है।

सबसे बड़ा तीर्थ तो गुरुदेव ही हैं जिनकी कृपा से फल अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं। गुरुदेव का निवास स्थान शिष्य के लिए तीर्थ स्थल है। उनका चरणामृत ही गंगा जल है। वह मोक्ष प्रदान करने वाला

है। गुरु से इन सबका फल अनायास ही मिल जाता है। ऐसी गुरु की महिमा है।

तीरथ गए तो एक फल, संत मिले फल चार।

सद्गुरु मिले तो अनन्त फल, कहे कबीर विचार॥

मनुष्य का अज्ञान यही है कि उसने भौतिक जगत को ही परम सत्य मान लिया है और उसके मूल कारण चेतन को भुला दिया है जबकि सृष्टि की समस्त क्रियाओं का मूल चेतन शक्ति ही है। चेतन मूल तत्व को न मान कर जड़ शक्ति को ही सब कुछ मान लेना अज्ञानता है। इस अज्ञान का नाश कर परमात्मा का ज्ञान कराने वाले गुरू ही होते हैं।

किसी गुरु से ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रथम आवश्यकता समर्पण की होती है। समर्पण भाव से ही गुरु का प्रसाद शिष्य को मिलता है। शिष्य को अपना सर्वस्व श्री गुरु देव के चरणों में समर्पित कर देना चाहिए। इसी संदर्भ में यह उल्लेख किया गया है कि

यह तन विष की बेलरी, और गुरू अमृत की खान,

शीश दियां जो गुरू मिले तो भी सस्ता जान।

गुरु ज्ञान गुरु से भी अधिक महत्वपूर्ण है। प्रायः शिष्य गुरु को मानते हैं पर उनके संदेशों को नहीं मानते। इसी कारण उनके जीवन में और समाज में अशांति बनी रहती है।

गुरु के वचनों पर शंका करना शिष्यत्व पर कलंक है। जिस दिन शिष्य ने गुरु को मानना शुरू किया उसी दिन से उसका उत्थान शुरू हो जाता है और जिस दिन से शिष्य ने गुरु के प्रति शंका करनी शुरू की, उसी दिन से शिष्य का पतन शुरू हो जाता है।

सद्गुरु एक ऐसी शक्ति है जो शिष्य की सभी प्रकार के ताप-शाप से रक्षा करती है। शरणा गत शिष्य के दैहिक, दैविक, भौतिक कष्टों को दूर करने एवं उसे बैकुंठ धाम में पहुंचाने का दायित्व गुरु का होता है। आनन्द अनुभूति का विषय है। बाहर की वस्तुएँ सुख दे सकती हैं किन्तु इससे मानसिक शांति नहीं मिल सकती। शांति के लिए गुरु चरणों में आत्म समर्पण परम आवश्यक है। सदैव गुरुदेव का ध्यान करने से जीव नारायण स्वरूप हो जाता है। वह कहीं भी रहता हो, फिर भी मुक्त ही है। ब्रह्म निराकार है।

इसलिए उसका ध्यान करना कठिन है। ऐसी स्थिति में सदैव गुरुदेव का ही ध्यान करते रहना चाहिए। गुरुदेव नारायण स्वरूप हैं। इसलिए गुरु का नित्य ध्यान करते रहने से जीव नारायणमय हो जाता है। भगवान श्रीकृष्ण ने गुरु रूप में शिष्य अर्जुन को यही संदेश दिया था –

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि शुचः ॥(गीता 18/66)

अर्थात् सभी साधनों को छोड़कर केवल नारायण स्वरूप गुरु की शरणगत हो जाना चाहिए। वे उसके सभी पापों का नाश कर देंगे। शोक नहीं करना चाहिए।

जिनके दर्शन मात्र से मन प्रसन्न होता है, अपने आप धैर्य और शांति आ जाती हैं, वे परम गुरु हैं। जिनकी रग-रग में ब्रह्म का तेज व्याप्त है, जिनका मुख मण्डल तेजोमय हो चुका है, उनके मुख मण्डल से ऐसी आभा निकलती है कि जो भी उनके समीप जाता है वह उस तेज से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। उस गुरु के शरीर से निकलती वे अदृश्य किरणें समीपवर्ती मनुष्यों को ही नहीं अपितु पशु पक्षियों को भी आनन्दित एवं मोहित कर देती है। उनके दर्शन मात्र से ही मन में बड़ी प्रसनन्ता व शांति का अनुभव होता है। मन की संपूर्ण उद्विग्नता समाप्त हो जाती है। ऐसे परम गुरु को ही गुरु बनाना चाहिए। हमारे बैकुंठवासी श्रीमज्जगद्गुरु रामानुजाचार्य स्वामी सुदर्शनाचार्य जी महाराज में परम गुरु के सभी गुण मौजूद थे और वर्तमान पीठाधीश्वर श्रीमज्जगद्गुरु रामानुचार्य स्वामी पुरूषोत्तमाचार्य जी महाराज में भी वे सभी गुण प्रत्यत्क्ष दिखाई देते हैं।

विजय कुमार IRTS

NE रेलवे गोरखपुर

गीता और आज का युवा

डॉ0 (कर्नल) वी0पी0 सिंह

गीता की उपयोगिता ,आज से हज़ारों वर्ष पहले, कुरुक्षेत्र की रण भूमि में जितनी अर्जुन को थी, उतनी ही, या शायद उससे भी अधिक , दिन प्रतिदिन की समस्यावों से जूझ रहे , आज के हर युवक को भी है ।

जो प्रश्न हमारे मन में किसी कर्म के प्रतिपादन की प्रक्रिया में उत्पन्न होते हैं , उनका समाधान किसी कक्षा में बैठ कर, या आराम से तर्क- वितर्क के द्वारा किसी चर्चे के बीच नहीं पाया जा सकता। उनके उत्तर तो मिलते हैं उस शाश्वत जागृत चेतना से, जो कृष्ण के रूप में सखा है, ज्ञान है, और प्रज्ञा भी मोह और अज्ञान से, अर्जुन के मन में जो संशय पैदा होते है, उनका निवारण कृष्ण किसी आदेश के रूप में नही, बल्कि एक मनोवैज्ञानिक या एक आधुनिक मैनेजमेंट गुरु की तरह, भय और अकर्मण्यता को परत दर परत हटा कर कुछ इस तरह करते हैं कि सारे सवालों के जबाब स्वयं प्रकट होने लगते हैं। वे ना तो अर्जुन के किसी प्रश्न को टालते हैं, ना किसी प्रश्न को निराधार बताते है। वे तो अर्जुन को फिर से केवल उन राहों पर लेकर चलते हैं, जिनपर वे चल चुके थे, जिनका उन्हें ज्ञान भी था, लेकिन किन्ही कारणों से उनपर कदम बढाने से वे हिचक रहे थे।

आज यही संशय हर युवा के समक्ष है। वो कहाँ जाना चाहता है? उसका लक्ष्य क्या है? लक्ष्य की प्राप्ति में सही और गलत की व्याख्या आवश्यक है या यह प्रश्न अनावश्यक है? जीवन की यात्रा में कदम कदम पर ऐसे सवाल उठते हैं, और इन सवालों का उत्तर ना तो स्कूल और कॉलेज की मोटी मोटी किताबों में मिल सकता है ना ही इनका निवारण आज का सर्वव्यापी गूगल कर सकता है। इनका उत्तर तो जीवन की अग्नि में तपा, और मन की तमाम उलझनों से उपर उठा कोई ऐसा दे सकता है, जिसके लिये कर्म और धर्म का अर्थ कोई एक शाश्वत सत्य निर्धारित करता है ।

मत, मज़हब या पूजा पद्धति से परे धर्म की व्याख्या, किंकर्तव्यविमूढ़ता त्याग कर कर्म का प्रतिपादन, और एक सतत चैतन्य, ये गीता के ऐसे मूल्य हैं, जिनकी प्रासंगिकता समय के साथ और

बढ़ती जा रही है।

गीता के सूत्रों के अनुसार जो हमें धारण करे वही धर्म है - जैसे अग्नि का धर्म है जलाना, पानी का भिगाना और प्यास बुझाना, उसी तरह विद्यार्थी का धर्म है ज्ञान प्राप्ति, सैनिक का राष्ट्र की सुरक्षा, और चिकित्सक का धर्म है पीडित की सेवा, राजनीतिज्ञ का समाज की भलाई और धर्मगुरु का आन्तरिक आत्मिक जागृति, समदृष्टि और समभावना। हर व्यक्ति जो किसी भी समय, अपने ऐसे किसी धर्म में लगा हो, उसका अपने उस धर्म पर मृत्यु को प्राप्त करना, अर्थात उस पर अपनी पूरी शक्ति और उक्ति व्यय कर देना, श्रेयकर है, और उसे छोड़ कर किसी और परधर्म की ओर आकृष्ट होना भयावह है, यानि तर्क और ज्ञान संगत नहीं है। इस विवेचना से अगर हर युवा यह समझ ले कि उसका सम्पूर्ण मानस और व्यक्तित्व, उसके कार्य करने की प्रणाली, उसकी बुद्धि, उसका विवेक, उसका कर्तव्य बोध, समाज, देश और मानवता के प्रति उसकी प्रतिबद्धता ये सब उसके धर्म हैं, और यह समझ ले की परिस्थिति और शिक्षा के अनुरूप वो जिस भी काम में लगा है, जब तक वह उस काम में संलग्न है, तब तक यह काम ही उसका धर्म है, तब वह किसी की काम को छोटा या ओछा या अनावश्यक नहीं समझेगा, और उस काम की पूर्ति में अपनी पूरी उर्जा लगायेगा। अगर कर्म को केवल वह जीविका का, या धन अर्जन का साधन समझेगा, तो निश्चित रूप से गीता की कर्म की अवधारणा से विलग हो, द्वंद की स्थिति में जियेगा .यह स्थिति आज हर उस नौजवान की है, जो तमाम प्रश्नों और उलझनों से घिरा, कभी निराशा, कभी नशे और कभी अकेलेपन का शिकार हो, या तो अपनी जीवन शक्ति को क्षीण करता है, या अपने जीवन के अन्त को अपनी समस्या का निवारण समझता है। उसे शक्ति दे सकती है गीता की यह पंक्ति 'कर्मण्ये वाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' अगर वो इस सूत्र को अपने जीवन का दर्शन बना ले, तो हर काम को उस क्षण का धर्म समझ कर करते हुए, और फल की प्राप्ति से अनासक्त रह कर, आज के जीवन की भागदौड और आपाधापी में भी, वो एक आनन्दपूर्ण जीवन जी पाएगा इस महामंत्र का अर्थ यह कदापि नहीं कि मनुष्य का कोई लक्ष्य ही ना हो, या उस लक्ष्य की प्राप्ति में ना उसकी भावनात्मक संलग्नता हो, ना उसकी पूर्ति में आनन्द और असफलता में दुख ऐसा तो सम्भव ही नहीं। भावनाएँ तो मन में उत्पन्न होंगीं। इसका तो

सही अर्थ यह है कि हर काम को सम्पूर्ण भावना, श्रद्धा, निष्ठा के साथ किया जाए और उसके फल में सम्मिलित भावनावों में सम्मिलित भी हुआ जाए, किन्तु यह क्षणिक आवेग ही जीवन का प्राप्य ना बन जाए और केवल यह प्रक्रिया ही किसी जीवन को परिभाषित ना करे , क्योंकि जीवन अगर एक स्तर कर प्रतिदिन किये जाने वाली क्रियावों की समरभूमि है, तो एक दूसरे स्तर पर जीवन, एक शाश्वत आन्तरिक, आत्मिक यात्रा भी है। हमारा जीवन एक सीधी लकीर नहीं है, जो कहीं से आरम्भ हो कर कहीं शेष हो जाती है, बल्कि एक वृत्त है, जिसके आदि और अन्त एक दूसरे में ऐसे विलीन हो जाते हैं कि सहज रूप से उनका निरूपण नहीं हो सकता।

गीता हर युवक से कहती है कि जीवन की यात्रा में, मन में उठते हर प्रश्न का उत्तर प्राप्त करो , प्रश्न पूछने में कभी लज्जा का अनुभव ना करो, जब तक निवारण ना हो जाए तब तक प्रश्न पूछो, लेकिन यह भी ध्यान रखो कि केवल जीवन और अनुभव से तपी प्रज्ञा के सम्मुख इन प्रश्नों को रख, उनके उत्तर की प्राप्ति के पश्चात उस कर्म को अपना धर्म मान कर उसमें अपने को और अपने अहम को तिरोहित कर दो । हर बार लक्ष्य की प्राप्ति के बाद एक नया लक्ष्य साधो, और सतत इस प्रक्रिया में लगे हुए, अपने अस्तित्व के सही रूप का साक्षात्कार करो। यही यात्रा भी है, यही लक्ष्य भी और यही शिखर भी गीता हर नवयुवक को अर्जुन मान कर कहती है- ''उत्तिष्त कौन्तेय .....'' , उठो , अपने जीवन और धर्म का सही अर्थ समझते हुए, पूरी निष्ठा के साथ अपने कर्म में लग जाओ। हर्ष और पीड़ा, सफलता और असफलता, हार और नैराश्य क्षणिक आवेग हैं, उनको ही जीवन समझने की भूल का करो। आशा सतत है, आनन्द शाश्वत है, जीवन कोई पड़ाव नहीं, एक अन्तहीन यात्रा है, और इस यात्रा में सम्मिलित हो , इसे पूरी आस्था के साथ जीना एक कला है। गीता हमें यह कला सिखाती है । इस कला को सीखो।

डॉ0 (कर्नल) वी पी सिंह

प्रोफेसर ऑफ़ मैडिसिन तथा विभागप्रमुख, भारती विद्यापीठ, पुणे
पूर्व उपकुलपति , सुमनदीप विद्यापीठ , वड़ोदरा
पूर्व प्रोफेसर ऑफ़ मैडिसिन सशत्रसेना चिकत्सा महाविद्यालय, पुणे

स तीर्थराजो जयति प्रयागः

डॉ0 अरुण कुमार त्रिपाठी

तीर्थ शब्द का उच्चारण करते ही मन पवित्रता से भर जाता है। धर्मशास्त्रों के अनुसार सामान्य धर्म में मुख्य रूप से क्षमा, सत्य, दम, शौच, दान, इन्द्रिय-संयम, अहिंसा, गुरूशुश्रुषा, तीर्थयात्रा, आर्जव, लोभशून्यता, देव-बाह्मण पूजन, अनभ्यसूया (ईर्ष्या का अभाव) आता है। जिसका वर्णन विष्णुधर्म सूत्र में इस प्रकार हैः-

क्षमा सत्यं दमः शौचं दानमिन्द्रियसंयमः।
अहिंसा गुरूशुश्रुषा तीर्थानुसरणं दया॥
आर्जवं लोभशून्यत्वं देवब्राह्मणपूजनम् ।
अनभ्यसूया च तथा धर्मः सामान्य उच्चते॥[1]

श्लोक में कहे गये सभी विषय एक दूसरे की पूर्ति नहीं करता, परन्तु तीर्थयात्रा शब्द में उपर्युक्त सभी शब्दों का तात्पर्य आ जाता है। सभी धर्मों में तीर्थयात्रा और तीर्थयात्रियों को एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया हैं और वर्तमान में भी विश्व के सभी धर्मों में तीर्थ और तीर्थयात्रा के स्थलों की सुरक्षा राष्ट्र की सुरक्षा के तरह देखा जाता है। शास्त्रों में तीर्थयात्रा को सभी पापों का नाश करने वाली बताया गया है। महाभारत वन पर्व में वर्णन प्राप्त होता है-

तीर्थयात्रा महापुण्या सर्वपापप्रमोचनी।
अश्वमेधशतास्याग्र्यं फलं प्रेत्य स भोक्ष्यति॥[2]

सनातन धर्म के सभी तीर्थ भारतीय संस्कृति और राष्ट्र की मौलिक एकता को बांधने के साथ-साथ विश्व की सभ्यता-संस्कृति को उदारता का संदेश देते हुए 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का आदर्श उपस्थित करते हैं। जाति, वर्ण की संकीर्णता, देश-विदेश के झमेले से ऊपर उठकर तीर्थ स्थान सभी को एक स्थान पर बैठाकर, गले लगाकर विश्वधर्म, मानवता का संदेश देते हैं। भेद में अभेद दृष्टि को बनाते हुए क्षमा भाव से निर्बल को जीवन का रास्ता दिखाते हैं, समाज के सबसे निर्बल, उपेक्षित असहाय व्यक्तियों को भी हर सम्भव जीने का साधन उपलब्ध कराते हैं।

ऋग्वेद दसम् मंडल में कहा गया है कि देवताओं को यज्ञ में पदार्थ, तीर्थ में की जाने वाली विधि से पहुँचता है- **अधायि धीतिरससृग्रमंशास्तीर्थे न दस्ममुप यन्त्यूमाः।।**[3]

महाभारत वनपर्व के सत्संग प्रसंग में धर्मात्मा भीष्म के प्रश्नों का उत्तर देते हुए महर्षि पुलस्त्य सामर्थ्यहीन मनुष्यों के लिए पुण्य प्राप्ति का सुगम उपाय बताते हुए तीर्थों का दर्शन, स्नान, वास, दानादि कृत्यों का वर्णन करते हुए कहते हैं –

प्राप्यन्ते प्राथिवैरेते समृद्धैर्वा नरैः क्वचित् ।
नार्थन्यूनैर्नागणैरेकात्मभिरसाधनैः।।
ऋषीणां परमं गुह्यमिदं भरतसत्तम।
तीर्थाभिगमनं पुण्यं यज्ञैरपि विशिष्यते।।[4]

इतना ही नहीं मनुष्य तीर्थयात्रा से जिस फल को पाता है उसे अति दक्षिणावाले अग्निष्टोम आदि यज्ञों द्वारा और भजन करके भी प्राप्त नहीं कर सकता –

अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैरिष्ट्वा विपुलदक्षिणैः।
न तत् फलमवाप्नोति तीर्थाभिगमनेन यत् ।।[5]

तीर्थ से व्यक्ति स्वयं तो फल प्राप्त ही करता है तथा अपने पितरों को भी नरक से निकलता है :--

तारिताः पितरस्तेन नरकात्प्रपितामहाः।
यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम् ।।
विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते।[6]

तीर्थों में प्रयागराज को श्रेष्ठ कहा गया है। इसीलिए प्रयागराज को तीर्थों का राजा कहा जाता है। यहाँ देव सरित गंगा एवं जगत् पाविनी कृष्णाप्रिया यमुना इन दोनों का पावन संगम है यहीं अन्तः सलिला भगवती सरस्वती भी गुप्त रूप से प्रवाहित है, इसीलिए इन तीनों पुण्य सलिला नदियों के संगम को त्रिवेणी भी कहा जाता है। शास्त्रों में वर्णित है कि प्रयागराज में 60 करोड़ 10 हजार तीर्थों को वास होता है। इसीलिए प्रयागराज को तीर्थों का राजा कहा गया है –

दशतीर्थसहस्त्राणि षष्टि कोटिस्तथा पराः।

येषां सान्निध्यमत्रैवं कीर्तितं कुरुनन्दन॥[7]

आग्निपुराण भी इसकी पुष्टि करता है-

दशतीर्थसहस्त्राणि षष्टि कोटिस्तथा पराः।

तेषां सन्निध्यमत्रैव प्रयागं परमं ततः॥[8]

प्रयाग को सभी तीर्थों का नायक कहा जाता है। तभी तो इतने तीर्थ यहाँ पर एक साथ इकट्ठा रहते हैं। मत्स्य पुराण में प्रयाग के अनेक तीर्थों का वर्णन प्राप्त होता है। सामान्य रूप से त्रिवेणी, द्वादश माधव, सोमेश्वर, भरद्वाज आश्रम, नागवासुकी, अक्षयवट तथा शेषावतारी बलराम का मन्दिर आदि तीर्थों के दर्शनीय स्थल हैं। इसीलिए यह तीर्थों का राजा है –

त्रिवेणीं माधवं सोमं भारद्वाजं च वासुकिम् ।

वन्दे अक्षयवटं शेषं प्रयागं तीर्थनायकम् ॥[8]

प्रयागराज का सर्वाधिक महत्व यहाँ माघ मास में लगने वाले मेला को लेकर है। कहा जाता है कि माघ के समय सभी देवता तथा सभी तीर्थ प्रयागराज में इकट्ठा को जाते हैं। प्रत्येक वर्ष जब माघ मास में मकर राशि में सूर्य का प्रवेश होता है। तब माघ मेले का आयोजन होता है जिसमें स्नान तथा कल्पवास करने के लिए लाखों श्रद्धालुगण आकर निवास करते हैं। पद्यपुराण में कहा गया है कि जो व्यक्ति माघमास में प्रयाग में स्नान करता है उसके अनन्त पुण्यफलों की गणना करना सम्भव नहीं है –

प्रयागे तु नरो यस्तु माघस्नानं करोति च।

न तस्य फलसंख्यास्ति शृणु देवर्षि सत्तम॥[9]

माघ मास में केवल मनुष्य ही नहीं अपितु तीर्थ भी गंगा स्नान करने प्रयागराज आते हैं और अपने पापों को धुलकर पुनः लौट जाते है--

षष्टि तीर्थ सहस्त्राणि षष्टि कोटयस्तथा पुरा।

माघमासे प्रयागे तु गाङ्गयामुनसङ्गमम् ॥[10]

अर्थात् माघ मास में गंगा यमुना के संगम में स्नान करने के लिए 60 करोड़ 60 हजार तीर्थ आते

है। इतना ही नहीं शास्त्रों में यह भी वर्णन प्राप्त होता हैं कि माघ मास की मकर संक्रान्ति में प्रयाग में स्नान दान करने से प्राप्त पुण्य की गणना ब्रह्मा भी नहीं कर सकते--

रवेर्मकरसंक्रान्तौ प्रयागे स्नानदानयोः।

फलमानं न शक्नोति कर्तुं ब्रह्माणि तत्वतः॥

प्रयागराज में अमृत प्राप्त की इच्छा से प्रत्येक बारहवें वर्ष करोड़ों लोग स्नान करते हैं। ज्योतिष गणना के आधार पर जब वृष राशि में गुरू तथ मकर राशि में चंद्र और सूर्य हो तब माघमास में अमावस्या के दिन कुम्भ महापर्व का योग होता है। इसीलिए शास्त्रों में प्रयागराज को तीर्थों मे प्रमुख स्थान दिया गया है--

ग्रहाणां यथा सूर्यो नक्षत्राणां यथा शशी।

तीर्थानामुत्तमं तीर्थं प्रयागाढयमुदाहृतम् ॥

सन्दर्भ--

1. विष्णुधर्मसूत्र 2/16-17
2. महाभारत वनपर्व 85/114
3. ऋग्वेद - 10-31-03
4. महाभारत वनपर्व 82/15, 17
5. वही 82/19
6. वृहन्नारदीय पु0 उ0ख0 62/12-13
7. महाभारत, वनपर्व 85/85
8. अग्निपुराण 46/9
9. पद्मपुराण खण्ड 3/4
10. मत्स्यपुराण 1007/7

डॉ0 अरुण कुमार त्रिपाठी

48/18 एच.आई.जी. योजना-2

झूँसी, प्रयागराज-211019

मो0- 9918456889

राम नाम की महिमा

राघवेन्द्र दास

बिबसहुँ जासु नाम नर कहहीं। जनम अनेक रचित अघ दहहीं॥

सादर सुमिरन जे नर करहीं। भव बारिधि गोपद इव तरहीं ॥

भावार्थः-विवश होकर (बिना इच्छा के) भी जिनका नाम लेने से मनुष्यों के अनेक जन्मों में किए हुए पाप जल जाते हैं। फिर जो मनुष्य आदरपूर्वक उनका स्मरण करते हैं, वे तो संसार रूपी (दुस्तर) समुद्र को गाय के खुर से बने हुए गड्ढे के समान (अर्थात बिना किसी परिश्रम के) पार कर जाते हैं।

राम नाम की बड़ी अद्भुत महिमा है। बस, जरूरत है श्रद्धा, विश्वास और भक्ति की। राम नाम स्वयं ज्योति है, स्वयं मणि है। राम नाम के महामंत्र को जपने में किसी विधान या समय का बंधन नहीं है।

राम दो अक्षर का नाम ,जितना छोटा उतना प्यारा ..... आइये जानते हैं इस नाम जप के महत्व को.....

बंदउँ नाम राम रघुबर को। हेतु कृसानु भानु हिमकर को॥

बिधि हरि हरमय बेद प्रान सो। अगुन अनूपम गुन निधान सो॥

भावार्थःमैं श्री रघुनाथजी के नाम 'राम' की वंदना करता हूँ, जो कृशानु (अग्नि), भानु (सूर्य) और हिमकर (चन्द्रमा) का हेतु अर्थात 'र' 'आ' और 'म' रूप से बीज है। वह 'राम' नाम ब्रह्मा, विष्णु और शिवरूप है। वह वेदों का प्राण है, निर्गुण, उपमारहित और गुणों का भंडार है।

राम नाम सबसे सरल और सुरक्षित है और इसके जप से लक्ष्य की प्राप्ति निश्चित रूप से होती है। इस नाम मंत्र के जप के लिए आयु, स्थान, स्थिति, जात-पात आदि वाह्य आडंबर का कोई बंधन नहीं है। किसी क्षण, किसी भी स्थान पर इसे जप सकते हैं।

स्त्री या पुरुष जब भी चाहें, इस नाम का जप कर सकते हैं। प्रभु के लिए सब समान हैं। तारक मंत्र 'श्री' से प्रारंभ होता है। 'श्री' को सीता अथवा शक्ति का प्रतीक माना गया है। राम शब्द 'रा' रकार 'म' मकार से मिलकर बना है।

'रा' अग्नि स्वरूप है यह हमारे दुष्कर्मों का दाह करता है। 'म' जल तत्व का द्योतक है। जल

आत्मा की जीवात्मा पर विजय का कारक है। इस प्रकार पूरे तारक मंत्र श्री राम जय राम जय जय राम का सार है शक्ति से परमात्मा पर विजय। योग शास्त्र में 'रा' वर्ण को सौर ऊर्जा का कारक माना गया है। यह हमारी रीढ़ रज्जु के दायीं ओर स्थित पिंगला नाड़ी में स्थित है।

यहां से यह शरीर में पौरुष ऊर्जा का संचार करती है। 'म' वर्ण को चंद्र ऊर्जा का कारक अर्थात् स्त्रीलिंग माना गया है। यह ऊर्जा रीढ़ रज्जु के बायीं ओर स्थित इड़ा नाड़ी में प्रवाहित होती है।

इसीलिए कहा गया है कि श्वास और निःश्वास तथा निरंतर रकार 'रा' और मकार 'म' का उच्चारण करते रहने के फलस्वरूप दोनों नाड़ियों में प्रवाहित ऊर्जा से सामंजस्य बना रहता है। अध्यात्मवाद में माना गया है कि जब व्यक्ति 'रा' शब्द का उच्चारण करता है तो इसके साथ-साथ उसके आंतरिक पाप बाहर आ जाते हैं। इस समय अंतःकरण निष्पाप हो जाता है।अभ्यास में भी 'रा' को इस प्रकार उच्चारित करना है कि पूरे का पूरा श्वास बाहर निकल जाए। इस समय 'तान्देन' से रिक्तता अनुभव होने लगती है। इस स्थिति में पेट बिल्कुल पिचक जाता है। किंतु 'रा' का केवल उच्चारण मात्र ही नहीं करना है। इसे लंबा खींचना है रा...ऽ...ऽ...ऽ।

अब 'म' का उच्चारण करें। 'म' शब्दबोलते ही दोनों होठ स्वतः एक ताले के समान बंद हो जाते है। और इस प्रकार वाह्य विकार के पुनः अंतःकरण में प्रवेश पर बंद होठ रोक लगा देते हैं।

राम नाम अथवा मंत्र जपते रहने से मन और मस्तिष्क पवित्र होते हैं और व्यक्ति अपने पवित्र मन में परब्रह्म परमेश्वर के अस्तित्व को अनुभव करने लगता है। यह विधि कितनी सरल है। शांति पाने का यह कितना सरल उपक्रम है। फिर भी न जाने क्यों व्यक्ति इधर-उधर भटकता फिरता है।

भायँ कुभायँ अनख आलस हूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥

सुमिरि सो नाम राम गुन गाथा। करउँ नाइ रघुनाथहि माथा॥

भावार्थः-अच्छे भाव (प्रेम) से, बुरे भाव (बैर) से, क्रोध से या आलस्य से, किसी तरह से भी नाम जपने से दसों दिशाओं में कल्याण होता है। उसी (परम कल्याणकारी) राम नाम का स्मरण करके और श्री रघुनाथजी को मस्तक नवाकर मैं रामजी के गुणों का वर्णन करता हूँ।।

व्यक्ति के शरीर में 72,000 नाड़ियां हैं, इनमें से 108 नाड़ियों का अस्तित्व हृदय में माना गया है। इसलिए मंत्र जप संख्या 108 मानी गई है। इस तरह एक माला अर्थात 108 जप संख्या के अनेक महत्व हैं। यहां केवल इतना समझें कि इतना जप करना महत्वपूर्ण है।

सुर, ताल तथा नाद और प्राणायाम से जप को और भी शक्तिशाली बनाया जाता है। मंत्र जप में तीन पादों की प्रधानता है। पहले आता है मौखिक जप। इस स्थिति में जैसे ही हमारा मन मंत्र के सार को समझने लगता है, हम जप की द्वितीय स्थिति अर्थात् उपांशु में पहुंच जाते हैं।

इस स्थिति में मंत्र का अस्पष्ट उच्चारण भी नहीं सुना जा सकता। तृतीय स्थिति में मंत्र जप केवल मानसिक रह जाता है। यहां मंत्रोच्चार केवल मानसिक रूप से चलता है। इसमें दृष्टि भी खुली रहती है और मानसिक तादात्म्य के साथ-साथ व्यक्ति अपने दैनिक कर्मों में भी लीन रहता है।

यह अवस्था मंत्र के एक करोड़ जप कर लेने मात्र से आ जाती है। यहीं से शांभवी मुद्रा सिद्ध हो जाती है और परमहंस की अवस्था पहुंच जाती है। तारक मंत्र का एक लाख जप कर लेने से व्यक्ति को अपने अंतःकरण में अनोखी अनुभूति होने लगती है।

यहां से व्यक्ति के लिए दुर्भाग्य नाम की किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं रह जाता। यदि ऐसा व्यक्ति मंत्र जप के बाद किसी बीमार व्यक्ति की भृकुटी में सुमेरु छुआ दे तो उसे आशातीत लाभ होने लगेगा।

जपहिं नामु जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी॥
राम भगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा॥

यतिराज विंशति

रमेश प्रसाद शुक्ल

यः स्तुतिं यतिपतिप्रसादनीं
व्याजहार यतिराज विंशतिम्।
तं प्रपन्नजन चातकाम्बुदं
नौमि सौम्यवरयोगिपुङ्गवम्॥

–तनियन

'जिन श्रीमद्वरवरमुनि ने यतिराज श्री रामानुज मुनि को प्रसन्न करनेवाली यतिराज विंशति नामक स्तुति अनुगृहीत की प्रपन्न जन रूप चातक के मेघ उन श्रीमद् वरवर मुनि का स्तवन करता हूँ।'

व्याख्याः- यतिराज श्रीरामानुज मुनि को प्रसन्न करने वाली यतिराजविंशति नामक स्तुति के रचयिता प्रपन्न जन के सभी अर्थों की वर्षा करने वाले श्रीमद्वरवरमुनि का स्तवन करता हूँ।

इस श्लोक के सम्बन्ध में ध्यान देने की बात यह है कि इसमें श्रीमद्वरवरमुनि का **'सौम्यवरयोगिपुंगव'** के नाम से स्मरण किया गया है। इस स्तुति की रचना उन्होंने गृहस्थाश्रम में ही कर ली थी किन्तु इस तनियन् श्लोक की रचना तब हुई जब उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया था। अतः इस श्लोक में 'योगिपुंगव' नाम से संकेत असंगत न होकर संन्यासी होने की भावी घटना का बोधक है।

श्रीरङ्गराजचरणाम्बुज राजहंसं
श्रीमत्परांकुशपदाम्बुजभृंगराजम् ।
श्रीभट्टनाथपरकालमुखाब्जमित्रं
श्रीवत्सचिह्नशरणं यतिराजमीडे ॥

–यतिराज विंशति , 2

'श्रीरङ्गनाथ भगवान् के चरणकमलों के राजहंस श्रीशठकोपमुनि के चरणकमलों के भ्रमर श्रीविष्णुचित्त श्रीपरकाल आदि आलवारों के मुख-कमल खिलानेवाले सूर्य श्रीवत्सचिह्नमिश्र के आश्रयभूत श्रीरामानुजमुनि की स्तुति करता हूँ।'

सन्दर्भः- पिछले श्लोक में नतमस्तक होकर प्रणाम करने की बात कही गई। इस श्लोक में वाणी को सफल करने के लिए स्तुति करने की बात कही गई है। श्रीरामानुजमुनि की उपमा राजहंस एवं भ्रमर को संदेशवाहक बताया है। यहाँ पर आचार्य श्रीरामानुज को वही उपमा दी गई है।

व्याख्याः- श्रीरंगराजचरणाम्बुज राजहंसम् –

जैसा कि जीवनवृत से ज्ञात होता है आचार्य श्रीरामानुज का श्रीरंगनाथ भगवान् के प्रति विशेष अनुराग था। साथ ही श्रीरंगनाथ ने भी उन्हें शरीर रहते तक श्रीरंगनगर में निवास करने का आदेश दे कर अपना विशेष अनुग्रह प्रदर्शित किया था। जिस प्रकार राजहंस कमल के समीप निवास करता है उसी प्रकार यतिराज श्रीरंगनाथ भगवान् के चरणों में निवास करते थे। राजहंस के सारे गुण यतिराज में मिलते हैं। जिस प्रकार हंस दूध और जल को अलग-अलग करने की शक्ति रखता है , उसी प्रकार यतिराज में सार एवं असार को पृथक्-पृथक् करने की शक्ति है। हंसावतार भगवान् ने वेदों का उपदेश दिया , यतिराज भी शिष्यों को उपदेश देते थे। जैसे राजहंस कीचड़ से प्रेम नहीं करता , उसी प्रकार परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीरामानुज का संसार से प्रेम नहीं था। हंस स्त्रियों का अनुकरण करता है। यतिराज में चेतन जीवों के पुरस्कार भी अपेक्षित हैं।

श्रीवेदान्तदेशिक स्वामी जी ने 'दत्ते रंगी निजमपि पदं देशिकादेशकांक्षी' कहकर इसको बतलाया है।

श्रीमत्परांकुशपदाम्बुजभृंगराजम् –

पिछले श्लोक में 'परांकुशपादभक्त' कहकर स्वरूपयुक्त दास्य का निर्देश किया गया था। इस श्लोक में गुणप्रयुक्त दास्य का उल्लेख किया गया है। जैसे कमल की मधुरिमा से भ्रमर आकर्षित होता है उसी प्रकार आलवार श्रीशठकोप के चरणों को अमृतप्रापकत्व समझ कर यतिराज उधर आकर्षित हुए। भ्रमर चंचरीक है। वह एक स्थान पर ही सीमित नहीं रहता। उसी प्रकार यतिराज भी विभिन्न दिव्यदेशों में उपस्थित हो कर भगवान् का अनुभव किया करते थे। श्रीशठकोप जी के पद्यों को भी परांकुश पद कहा जा सकता है। अतः पद से सहस्त्रगीति का संकेत मानने पर यह अर्थ निकलता है कि श्रीशठकोप की सूक्तियों में

भगवत्सम्बन्धी जो माधुर्य है उसको यतिराज भ्रमर की तरह ग्रहण करते हैं।

श्रीभट्टनाथपरकालमुखाब्जमित्रम् –

आलवार श्रीविष्णुचित एवं आलवार श्रीपरकाल के मुख कमल को विकसित करनेवाले सूर्य कहने का तात्पर्य यह है की जिस प्रकार श्रीविष्णुचित ने श्रीमन्नारायण का परत्व स्थापित किया उसी प्रकार उसी मार्ग से श्रीरामानुज ने परतत्व की सिद्धि की। श्रीपरकाल स्वामीजी ने मन्दिर, गोपुर, मण्डप आदि निर्माण कर दिव्यादेशों की सेवा की। श्रीरामानुज भी वही करते हैं जिससे परकाल संतुष्ट होते हैं। यहाँ पर 'मुख' शब्द से यह भाव भी निकलता है कि श्रीविष्णुचित्त एवं श्रीपरकाल स्वामीजी जिन आलवारों में प्रमुख हैं उन सभी आलवार रूपी कमलों को विकसित करने वाले सूर्य श्रीरामानुज हैं।

श्रीवत्सचिह्न शरणम् – श्रीभाष्यकार की शिष्य मण्डली में श्रीवत्सचिह्नमिश्र के सम्बन्ध में विशेष रुप से इस विशेषण का वर्णन क्यों किया गया है ? वस्तुतः उनमें यतिराज के प्रति विशेष प्रेम था जिसके फलस्वरूप उनको यतिराज का चरण स्थानीय माना जाता है। शिष्य दाशरथि में भी यह विशेषता थी। श्रीमद्वरवरमुनि ने यहाँ पर उनका उल्लेख किया है। 'चरणं' यह भी पाठ है ।

वाचा यतीन्द्र! मनसा वपुषा च यष्मत्पादारविंदयुगलं भजतां गुरूणम् ॥
कूराधिनाथ कुरुकेश मुखाध्यपुंसां पादानुचिंतन परस्सततं भवेयम् ॥

–यतिराज विंशति , 3

'हे यतिराज ! मन, वाणी एवं कर्म से आपके चरणकमलों की सेवा करने वाले गुरुओं के जिनसे कूराधीश, कुरुकेश आदि प्रधान हैं चरणों का चिन्तन मैं भी करनेवाला निरन्तर होऊँ ।'

भावार्थः- श्रीरामानुजनूत्तंदादि के एक पद के भाव को ध्यान में रखकर आचार्य ने इस श्लोक की रचना की है। श्रीरामानुज के चरणकमलों की स्तुति करने की अपेक्षा उनके भक्तों के चरणकमलों की स्तुति करना बढ़ कर है, यह यही उक्त गाथा का सारांश है । इस श्लोक से भी यही प्रकट होता है । भगवान् को प्रसन्न करने के लिए सीधे भगवान् की स्तुति न कर भगवद्भक्तों की स्तुति करना शास्त्रीय मार्ग है । उसी को यहाँ बताया गया है।

मनसा वाचा वपुषा भजताम् –

यतिराज की मन, वाणी एवं अनुष्ठान के द्वारा भक्ति करनेवाले थे श्रीकूरेश, श्रीकुरुकेश्वर आदि महानुभाव । मन से वे यतिराज के दिव्य गुणों का चिन्तन करते- कराते थे तथा उनके दिव्यमंगलविग्रह का ध्यान करते थे । वाणी से वे यतिराज की स्तुति करते थे । अपनी देह के द्वारा वे यतिराज की सेवा करते थे । ऐसे महानुभावों का चिन्तन करने से वैसी ही भावना का आविर्भाव होगा जैसी कि उनके हृदय में थी । इस श्लोक में वैयाकरण ऐसी शंका कर सकते हैं कि 'युष्मत्पादारविन्द' के स्थान पर 'त्वत्पादारविन्द' होना चाहिए था किन्तु आचार्य श्रीपराशरभट्ट ने भी अपने 'श्रीगुणरत्नकोश' के अन्तिम श्लोक में ऐसा ही शब्द प्रयोग उपस्थित कर आचार्य को मार्ग प्रदर्शित किया था । 'युष्मत्पादसरोरुहान्तररजः स्याम त्वमम्बा पिता।' अतः ऐसे शब्द प्रयोग में आचार्य अपने पूर्वाचार्यों के ही अनुगामी थे ।

–रमेश प्रसाद शुक्ला

–जय श्रीमन्नारायण।

ढाई आखर प्रेम का

भगवती चरण

साधक का मुख म्लान था, आखिर किस बात से परेशानी थी उसे – 'पिउ हिरदय मँह भेंट न होई'। उसने सारे जतन कर डाले, सारे शास्त्र उसे कण्ठाग्र थे, सारे उपवास नियमपूर्वक किए थे, धन का संचय तो जीवन में कभी किया ही नहीं, कामनाओं के वशीभूत भी नहीं हुआ; फिर भी ईश्वर प्रत्यक्ष क्यों नहीं ? गुरु के चेहरे पर हल्की मुस्कान थी, ना शिष्य पर क्रोध, ना ही कोई उलझन । उनके वचन निर्द्वंद्व थे- तुमने अपनी कामनाओं को कभी पूरा नहीं किया किंतु क्या मन से उनका त्याग कर पाए ? शिष्य के चेहरे पर विकार की झुर्रियाँ और गाढी हो गयीं । 'मन तो चंचल होता ही है, उसका स्वभाव ही है कामनाओं की लालसा करना। भला उसे कैसे रोकें' । गुरु फिर मुस्कुराए- 'जब तक मन ईश्वर को समर्पित नहीं तब तक ईश्वर प्रत्यक्ष नहीं' । ' और वह होगा कैसे?'- शिष्य ने पूछा । गुरु का जवाब फिर निर्भ्रांत था- वैराग्य से। शिष्य को मानो इस जवाब का पहले से पता था- पूर्ण असन्तोष से उसने अगला प्रश्न किया – मन वैराग्य पर स्थिर कैसे रह सकता है? मन तो स्वभाव से ही चंचल है।

अब गुरु ने ईश्वर कृपा का महत्व बताना जरुरी समझा – ज्ञान से, कठोर अभ्यास से वैराग्य पर मन स्थिर किया जा सकता है, लेकिन ईश्वर की कृपा के विना यह सम्भव नहीं।

'और ईश्वर की कृपा भला हम पर क्यों होगी, और होगी भी तो कब होगी - कैसे होगी ?' शिष्य को मानो यकीन हो चला था कि उसकी समस्या का कोई समाधान सम्भव ही नहीं । कम से कम इस जन्म में तो बिल्कुल नहीं । यह बात उसके प्रश्न से बिल्कुल साफ थी। गुरु ने समाधान देते हुए कहा- ' यह तो अर्जित पुण्यों का ही फल होता है, और पुण्यार्जन का स्रोत है सारे अच्छे कर्म और परोपकार-

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

(महर्षि वेदव्यास जी ने अठारह पुराणों में दो विशिष्ट बातें कही हैं - पहली –परोपकार करना पुण्य होता है और दूसरी — पाप का अर्थ होता है दूसरों को दुःख देना)

शिष्य अब कुछ- कुछ समझ रहा था, लेकिन हृदय की शंका थी कि दूर ही नहीं हो रही थी। सारा खेल तो मन का ही खेलाया था, मन कहाँ यह चाहेगा कि परोपकार करें। 'यदि मन को हरि के चरणों में लगाना है तो यह बात बडी मुश्किल है। अपना मन तो सदैव यह चाहता है कि भलाई अपनी हो और पीडा तो सदैव दूसरो के पास जाए। यह कैसे सम्भव है कि हम सुख दूसरो के हिस्से जाने दे और पीडा स्वयँ ले लें। भला खुद भूखा रहकर कोई दूसरे का पेट भर सकता है ?' शिष्य ने अपनी समस्या कह सुनाई ।

'यह भी सम्भव है । प्रेम से – हाँ , प्रेम से सब कुछ सम्भव है।'

गुरु ने अब कुंजी सामने रख दी थी । शिष्य अब भी असमंजस में ही था। 'जो प्रत्यक्ष ही नहीं उससे प्रेम कैसे करें' – उसका सवाल बिल्कुल सपाट था। लेकिन गुरु को उसकी समस्या का हल नजर आ गया था। उन्होंने अभी तक सिर्फ कुन्जी सामने रखी थी, उसे घुमाना कैसे है यह तो बताया ही नहीं था। उन्होंने प्रेम की व्याख्या की-

प्रेम एक अनूठी भावना है, यह एक सागर के सामान है जिसमे सभी भावनाओं का समागम हो जाता है ! भावनाओं के मिलने के बाद अगर कुछ रह जाता है तो वह बस प्रेम है । प्रेम न बड़ा होता है न छोटा। प्रेम को देखना हो तो राधा कृष्ण को देखो। राधा प्रेम को पा न सकी, कृष्ण उसे नहीं मिले तो क्या हुआ। देखो आज भी नाम उनका राधेश्याम ही लिया जाता है । कृष्ण का राधा प्रति प्रेम ऐसा था की कन्हैया अपना सब कुछ लुटा बैठे !

प्रेम कोई बाहरी चीज नही होती, वह तो हृदय से ही मिलता है और हृदय से ही किया जाता है। जब हनुमान जी भगवान श्री रामचंद्र का संदेश लेकर माता सीता के पास पहुंचे तो उन्होंने प्रभु के प्रेम को प्रभु के संदेश में इस प्रकार सामने रखा-

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा, जानत प्रिया एक मनु मोरा।
सो मनु सदा रहत तोहि पाहि जानु प्रीति रसु एतनेहु माहि॥

अब यही प्रेम ईश्वर के चरणों में हो जाए तो वह भक्ति है। भक्ति अथवा प्रेम किया ही नहीं जा सकता। यह तो स्वयं हो जाता है। यह असाध्य रोग के समान है जिसे लग गया वह बावला हो गया ।

प्रेम की वह महत्ता है कि प्रभु स्वयं भी प्रेम किया करते हैं- अपने भक्तो से। राधा हो या सीता, अर्जुन हो या हनुमान – है तो पात्र ही – प्रभु के प्रेम के पात्र । भक्तों से ईश्वर अहैतुक प्रेम किया करते हैं।

शिष्य यह सब ध्यान लगाए सुन रहा था। गुरु ने उसकी शंका दूर की- यदि ईश्वर प्रत्यक्ष नहीं तो क्या, उसकी संतानें तो प्रत्यक्ष है, उनसे प्रेम करो। एक बार दूसरो से प्रेम करना सीख लिया तो चिंता अपनी नहीं होगी, दूसरों की होगी। वैराग्य और परोपकार अपने आप हृदय में आ बसेंगे। जिसने संसार से प्रेम करना सीख लिया उससे तो ईश्वर स्वयं प्रेम किया करते हैं, वह प्रभु के हृदय में बसा करता है। प्रेम दर्शन के आचार्य देवर्षि नारद जिन्होने भक्ति सूत्र की रचना की वे प्रेम की पराकाष्ठा पर पहुँच गए, उनकी स्तुति स्वयँ भगवान श्री कृष्ण ने की –

अहं हि सर्वदा स्तौमि नारदं देवदर्शनम् ।

प्रेम करने वाला ईश्वर से एकाकार हो जाता है । यही प्रेम का प्रतिफल है ।

भगवती चरण
नयी दिल्ली

मानस के नैतिक मूल्य

फूल चन्द्र दुबे

रामचरितमानस के प्रायः अधिकांश पात्र नैतिक मूल्यों के उद्वाहक हैं। मानस के नायक श्रीराम, सीता, भरत, लक्ष्मण, केवट, हनुमान्, जाम्बवान्, बशिष्ठ, विभीषण आदि का जीवन नैतिक मूल्यों से संपृक्त है। ये सभी नैतिक मूल्यों के साक्षात् उदाहरण हैं। विभीषण ने नैतिकता के नाते ही राम का साथ दिया और शरणागत हुआ, भाई का साथ नहीं दिया। संकटग्रस्त सीता की नैतिकता अपरिचित अशोक वाटिका में डिगी नहीं। निषादराज केवट सदैव नैतिक सत्य बोलता है।

रामचरितमानस में-साधुमत, लोकमत तथा नृप-नय आदि नैतिक मूल्य के ही व्यंजक हैं। तुलसी जहाँ धर्म की प्रतिष्ठा करते हैं या नैतिक मूल्य की प्रतिष्ठा करते हैं, वहाँ उसके आचरण में राम से बढ़कर पारंगत अन्य कोई नहीं है-

नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ।। अयोध्याकाण्ड 242-4

नैतिक मूल्यों की आवश्यकता हर युग में अपेक्षित है। उसमें मानव जीवन के शुद्धतम विकास के लिए आचरण की शुद्धता अनिवार्य है जिससे मनुष्य पवित्र हो जाता है, अन्यथा 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः से ही संतोष करना पड़ेगा।

नैतिक मूल्यों का मुख्य उद्देश्य समाज की और स्वयं की दुर्वृत्तियों को दूर करना है। नैतिक मूल्यों के अन्तर्गत क्षमा, दया, ममता, समता, ईमानदारी, सत्यनिष्ठा, परोपकार, सद्भाव, परदुःखकातरता, श्रेष्ठजन-श्रद्धा, निम्नजन-स्नेह आदि भाव आते हैं।

प्रायः पूरे रामचरितमानस में वैयक्तिक नैतिक मूल्यों की चर्चा है, पर लंकाकाण्ड में धर्मरथ के रूपक के शौर्य, धैर्य, सत्य, शील, बल, विवेक, दम, परोपकार, क्षमा, दया, समता, ईशभजन, विरति, संतोष, दान, बुद्धि, विज्ञान, अमल-अचलमन, शम, यम, नियम तथा विप्रगुरु-पूजा के द्वारा नैतिक मूल्यों पर जैसा प्रकाश डाला गया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है :-

'सौरज, धीरज तेहि रथ चाका, सत्यसील दृढ़ ध्वजा पताका।।
बल विवेक दम परहित घोरे, क्षमा कृपा समता रजु जोरे।
ईस भजन सारथी सुजाना, बिरति चर्म संतोष कृपाना।
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा, बरविज्ञान कठिन को दंडा।
अमल अचल मन त्रोन समाना, सम जम नियम सिलीमुख नाना।
कवच अभेद बिप्र गुर पूजा, यहि सम विजय उपाय न दूजा। (लंकाकाण्ड दोहा 79-4-1)

पतिव्रत धर्म की नैतिकता के कारण ही सीता भगवान् श्रीराम के साथ वनगमन पसन्द करती हैं,

गृह में रहना नहीं। वन में राम वही कार्य करते हैं, जिससे सीता को कोई कष्ट न हो।

जिस समय राम, हनुमान् के द्वारा सीता के लिए विरह संदेश भेजते हैं, उस समय उनका हार्दिक प्रेम नैतिक मूल्यों को प्रदर्शित करता है :-

कहेउ राम वियोग तव सीता। मो कहूँ सकल भए विपरीता।।

कुवलय विपिन कुंत वन सरिसा। वारिद, तपत तेल जनु बरिसा।।

जेहित रहे करत तेइ पीरा उरगस्वास सम त्रिविध समीरा।। सुन्दरकाण्ड--14-1-3

गृहस्थ जीवन की सफलता सुयोग्य और सुशील गृहिणी पर निर्भर हैं। धर्मशास्त्रों में नारी के लिए दो प्रकार के नैतिक मूल्यों की चर्चा की गई है। सास-श्वसुर की सेवा तथा पति सेवा, इसमें प्रथम नैतिक मूल्य सामान्य है और द्वितीय विशेष नैतिक मूल्य है। माता मैना, पार्वती को पतिपद-पूजा का संकेत करती हैं -

करेहु सदा संकर पद पूजा। नारि परम पति देव न दूजा।। बालकाण्ड- 101//3

उनके यहाँ सास-श्वसुर नहीं है, अतः उन्हें सामान्य धमीपदेश की कोई आवश्यकता नहीं है, किन्तु सीता के घर में सासु-श्वसुर तथा गुरु विद्यमान हैं। अस्तु उनकी सेवा के लिए विशेष धर्म भी ग्राहय है -

सासु ससुर गुर सेवा करेहू। पति रुख लखि आयसु अनुसरेहू।। बालकाण्ड 333/ 5

परिस्थितियों के अनुसार नैतिक मूल्य बदलते रहते हैं। वन जाते समय राम, सीता को सामान्य धर्म का उपदेश करते हैं किन्तु सीता पति-सेवा तथा पतिं-साहचर्य को विशेष धर्म मानकर अपने नैतिक मूल्यों का प्रकाशन करती है :-

जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहिं तरनिहुते ताते।।

जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी।। अयोध्याकाण्ड 65/357

माता सुमित्रा का चरित्र कौशल्या के समान ही अनुकरणीय है। इनका राम-माता कौसल्या तथा राम से वही संबंध है जो कैकेयी का, परंतु दोनों के चरित्र में महान अन्तर है। कैकेयी अपने पुत्र भरत के राज्य की दृढ़ता के लिए राम को चौदह वर्ष के लिए बन भेजती हैं, तो माता सुमित्रा अपने पुत्र लक्ष्मण को वन में राम की सेवा हेतु साथ लगा देती है :-

'तात तुम्हारि मातु बैदेही । पिता राम सब भाँति सनेही।

जौ पै सीयराम बन जाहीं। अवध तुम्हार काजु कछु नाहीं।। अयोध्याकाण्ड 73 / 2-4

राजा दशरथ आदर्श पिता के रूप में चित्रित हैं। पुत्र के ऊपर पिता का स्वाभाविक प्रेम होता है किन्तु कई पुत्र होने पर कठिनाई होती है। ऐसी स्थिति में वही पुत्र विशेष स्नेहभाजन तथा प्राणप्रिय होता है, जो पिता का अनन्य भक्त होता है। राम पर दशरथ का विशेष प्रेम है -

सब सुत प्रिय मोंहि प्रान की नाई। राम देत नहिं बनइ गोसाँई।। बालकाण्ड 207/ 5

आदर्श पिता के आदर्श पुत्र राम 'यः प्रीणयेत सुचरितैः पितरं स पुत्रः' को नैतिक आदर्श मानकर प्रतिदिन का प्रारंभ पिता अभिवादन और आज्ञापालन से करते हैं :-

प्रातकाल उठि के रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा।।

आयसु मांगि करहिं पुर काजा। देरिव चरित हरषइ मन राजा।। बालकाण्ड 204 /7-8

वे वन-गमन के समय अपने माता-पिता का ध्यान रखने के लिए पुरजनों से निवेदन करते हैं :-

सोइ सब भाँति मोर हितकारी। जेहि तें रहे भुआल सुखारी।

मातु सकल मोरे बिरह, जेहि न होंहि दुख दीन।

सोइ उपाउ तुम्ह करेहु सब पुर जन परम प्रबीन।। अयोध्याकाण्ड 76 /8/80 दोहा

सभी भ्राताओं में समान प्रीति होते हुए भी राम के सुख-दुःख के साथी एकमात्र लक्ष्मण ही हैं। ये बड़े भाई राम को ही माता-पिता और गुरु मानते हैं :-

गुर पितु मातु न जानऊँ काहू। कहहूँ सुभाउ नाथ पतिआहू।। अयोध्याकाण्ड 71-4

यही कारण है कि लक्ष्मण अपनी विद्यमानता में राम का अपमान सहन नहीं कर पाते। धनुषयज्ञ के अवसर पर राजा जनक जी द्वारा कथित वीर विहीन मही मैं जानी' बचन इन्हें बाण समान लगता है और वे भाई राम के चरणों में श्रद्धावनत होकर रोषपूर्ण वचनों से उसका प्रतिकार करते है जिससे पृथ्वी भी डगमगाने लगती है।

प्रकृति द्वारा प्रदत्त नैतिक मूल्य है - छोटे जन बड़ों को सम्मान दें और बड़े लोग छोटों को स्नेह प्रदान करें :-

बड़े स्नेह लघुन्ह पर करही, गिरि निज सिरनि सदा तन धरही।।

जलधि अगाध मौलि बह फेनू। सतत धरनि धरत सिर रेनू।।

प्रभु अपने नीचहु आदरहीं। अगिनि धूम गिरि सिर तिनु धरहीं।।।

बालकाण्ड 166-7-8 । अयोध्याकाण्ड 284-3

इस प्रकार राम अपने लघु जनों को सम्मान देते रहे हैं।

इस प्रकार वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक नैतिक मूल्यों का प्रतिपादन घटनाओं में सम्पन्न कार्यों, पात्रों के चरित्रांकन एवं स्वयं कथन द्वारा रामचरितमानस में बहुशः हुआ है। तुलसी ने अपने युग में नैतिक मूल्यों की रिक्तता को भरने के लिए रामचरितमानस का प्रणयन किया और पात्रों द्वारा विशेषतः राम, सीता, भरत, लक्ष्मण, ऋषि-मुनियों के आचरण से नैतिक मूल्यों की स्थापना की। भारत ही नहीं वरन् विश्व के जन-जन के मंन को निनादित करने वाला रामचरितमानस आज नैतिक मूल्यों पर आधृत सुखी समाज की उद्घोषणा कर रहा है।